International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 02-03-2026, Accepted: 02-04-2026, Published: 17-04-2026
Volume 12, Issue 2, 2026, Page No. 56-63

लगान, संघर्ष और स्वराज: संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलन का संक्रमणकाल (1937–1947)

डॉ. मुनेन्द्र सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास एवं एशियन कल्चर विभाग, शिया पी0जी0 कॉलेज, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
सन 1937 से 1947 तक का दशक संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में किसान संघर्षों के इतिहास में एक गहरे और बहुआयामी संक्रमणकाल के रूप में उभरता है। यह कालखंड केवल कृषकों की पारंपरिक आर्थिक पीड़ाओं—जैसे अत्यधिक लगान, बेदखली की बढ़ती घटनाएँ, साहूकारी ऋण का बोझ और फसली अस्थिरता—का स्वाभाविक परिणाम नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक राजस्व नीतियों, जमींदारी भू–संरचना, प्रांतीय स्वायत्तता के अंतर्गत बनी कांग्रेस सरकारों की सीमाओं, द्वितीय विश्वयुद्ध के आर्थिक दुष्प्रभावों तथा राष्ट्रीय राजनीति के तीव्र होते विमर्शों के संयुक्त प्रभाव से निर्मित एक व्यापक सामाजिक–राजनीतिक उथल–पुथल का काल था। 1937 में कांग्रेस मंत्रालय के गठन ने ग्रामीण समाज में सुधार की आशा जगाई, किंतु औपनिवेशिक प्रशासनिक ढाँचे, संवैधानिक प्रतिबंधों और स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्गों के प्रभाव के कारण भूमि–संबंधी संरचनात्मक परिवर्तन अपेक्षित स्तर तक नहीं पहुँच सके। परिणामस्वरूप किसानों के भीतर निराशा और असंतोष का संचय हुआ, जिसने संगठित किसान सभाओं और ग्रामीण राजनीतिक चेतना के विस्तार को प्रेरित किया। इस शोध में यह विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार किसानों ने अपने पारंपरिक आर्थिक प्रश्नों—विशेषतः लगान की दरों, बेदखली के विरुद्ध सुरक्षा, ऋण–राहत और भू–अधिकार—को केवल स्थानीय प्रशासनिक शिकायतों तक सीमित न रखकर उन्हें राजनीतिक अधिकार, सामाजिक न्याय और स्वराज की व्यापक अवधारणा से जोड़ा। सन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ के साथ ही मूल्य–वृद्धि, अनिवार्य आपूर्ति, खाद्यान्न संकट और ग्रामीण संसाधनों के दोहन ने औपनिवेशिक शासन के प्रति असंतोष को और तीव्र किया। 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों की सक्रिय भागीदारी ने यह संकेत दिया कि उनका संघर्ष अब केवल जमींदारों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिरोध नहीं रहा, बल्कि औपनिवेशिक राज्य की वैधता को चुनौती देने वाला राजनीतिक हस्तक्षेप बन चुका था। इस प्रक्रिया में किसान संगठनों ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ सहयोग और आलोचनात्मक दूरी—दोनों प्रकार की रणनीतियाँ अपनाईं, जिससे ग्रामीण राजनीति का एक विशिष्ट स्वरूप विकसित हुआ। विदेशी इतिहासकारों—जैसे Eric Stokes द्वारा ग्रामीण सामाजिक संरचना और कृषक राजनीति के विश्लेषण, Ranajit Guha द्वारा किसान चेतना की स्वायत्तता की अवधारणा, Judith Brown द्वारा कांग्रेस की नीतिगत सीमाओं का मूल्यांकन, Christopher Bayly द्वारा औपनिवेशिक–सामंती गठजोड़ की व्याख्या, Tom Brass द्वारा वर्गीय संरचना के विश्लेषण, तथा D. A. Low और David Arnold द्वारा औपनिवेशिक राज्य और युद्धकालीन नीतियों के अध्ययन—के आलोक में यह शोध यह प्रतिपादित करता है कि 1937–47 का किसान आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का मात्र सहायक या परिशिष्ट नहीं था। इसके विपरीत, यह एक स्वायत्त, बहुस्तरीय और ऐतिहासिक रूप से निर्णायक ग्रामीण प्रतिरोध प्रक्रिया थी, जिसने औपनिवेशिक सत्ता–संरचनाओं और स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्गों दोनों को चुनौती दी।

मूल शब्दः संयुक्त प्रांत, किसान आंदोलन, जमींदारी, लगान, कांग्रेस मंत्रालय, राष्ट्रीय आंदोलन, किसान सभा, औपनिवेशिक राजस्व नीति, वर्ग–संघर्ष, भूमि–सुधार

भारत का स्वतंत्रता संघर्ष केवल नगरों, शिक्षित मध्यवर्गीय नेतृत्व और औपचारिक राजनीतिक संगठनों तक सीमित नहीं था; उसकी वास्तविक ऊर्जा का एक बड़ा स्रोत ग्रामीण भारत में विकसित हो रहे किसान आंदोलनों में निहित था। औपनिवेशिक शासन की राजस्व–नीतियों, भूमि–अधिकार की असमान संरचना और ग्रामीण समाज में व्याप्त सामाजिक पदानुक्रम ने किसानों के जीवन को गहरे संकट में डाल दिया था। विशेष रूप से संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में 1937 से 1947 तक का दशक इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि इसी काल में कृषक संघर्षों ने पारंपरिक आर्थिक असंतोष की सीमाओं को पार कर एक संगठित राजनीतिक प्रतिरोध का रूप ग्रहण किया। 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता के अंतर्गत कांग्रेस मंत्रालय के गठन से किसानों में यह आशा जगी कि लगान में कमी, बेदखली पर नियंत्रण और ऋण–राहत जैसे मुद्दों पर ठोस सुधार होंगे; किंतु संवैधानिक प्रतिबंधों, औपनिवेशिक प्रशासनिक नियंत्रण तथा ग्रामीण प्रभुत्वशाली वर्गों के प्रभाव के कारण अपेक्षित भूमि–सुधार लागू नहीं हो सके। इस परिस्थिति ने किसानों को यह अनुभव कराया कि उनकी समस्याएँ केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सत्ता–संरचना और राजनीतिक प्रतिनिधित्व से भी जुड़ी हुई हैं।

प्रारंभिक चरण में किसान आंदोलन का केंद्र लगान की ऊँची दरें, फसल–असुरक्षा, साहूकारी ऋण का बोझ और जमींदारों द्वारा की जाने वाली बेदखली जैसी समस्याएँ थीं। किंतु जैसे–जैसे ग्रामीण समाज में संगठनात्मक चेतना विकसित हुई, ये प्रश्न व्यापक राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बन गए। कृषक संगठनों और किसान सभाओं के माध्यम से ग्रामीण जनता ने अपनी माँगों को औपनिवेशिक राज्य और जमींदारी व्यवस्था की संरचनात्मक आलोचना से जोड़ा। Eric Stokes ने The Peasant and the Raj (1978) में इंगित किया है कि कृषक प्रतिरोध को केवल तात्कालिक आर्थिक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि ग्रामीण सामाजिक संरचना और राजनीतिक चेतना के विकास की प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए (Stokes, 1978, pp- 3–7, 221–245)। इसी प्रकार Ranajit Guha ने Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983) में प्रतिपादित किया कि किसान आंदोलनों की अपनी स्वायत्त राजनीतिक भाषा और प्रतीक–व्यवस्था होती है, जो उन्हें केवल राष्ट्रवादी राजनीति के अधीनस्थ रूप में देखने की प्रवृत्ति को चुनौती देती है (Guha, 1983, pp- 1–12, 330–335)।

संयुक्त प्रांत की कृषि अर्थव्यवस्था बहुस्तरीय और जटिल थी। यहाँ जमींदारी, तालुकेदारी और उपभोगाधिकारों की मिश्रित संरचना ने भूमि–संबंधों को असमान बनाया। वास्तविक उत्पादक किसान प्रायः असुरक्षित अधिकारों के साथ उच्च राजस्व–दरों और सामाजिक निर्भरता के जाल में फँसे रहते थे। Christopher

Bayly ने उत्तर भारत की सामाजिक–राजनीतिक संरचना का विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि औपनिवेशिक सत्ता और स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्गों के बीच गठजोड़ ने ग्रामीण समाज में असमानताओं को संस्थागत रूप दिया (Rulers, Townsmen and Bazaars, 1983, pp. 12–18, 286–305)। इसी संदर्भ में Judith M- Brown ने कांग्रेस राजनीति की सीमाओं और ग्रामीण सुधारों के प्रश्न पर उसके द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण को रेखांकित किया है (Gandhi's Rise to Power, 1972, pp. 285–310), जिससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय नेतृत्व और किसान आकांक्षाओं के बीच संबंध हमेशा सरल या एकरेखीय नहीं थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–45) ने ग्रामीण संकट को और तीव्र किया। मूल्य–वृद्धि, अनिवार्य आपूर्ति और खाद्यान्न संकट ने किसानों की आजीविका पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। David Arnold ने युद्धकालीन नीतियों के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि राज्य के हस्तक्षेप ने स्थानीय बाजारों को अस्थिर किया और ग्रामीण समाज में असुरक्षा की भावना को बढ़ाया (Arnold, 1977, pp- 145–160; तुलनात्मक संदर्भ)। इसी प्रकार D. A. Low ने यह स्पष्ट किया है कि 1940 के दशक में औपनिवेशिक शासन की वैधता व्यापक रूप से प्रश्नांकित होने लगी थी (Congress and the Raj, 1977, pp. 312–340)। ग्रामीण क्षेत्रों में 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान जो सक्रियता दिखाई दी, उसने प्रमाणित किया कि कृषक असंतोष अब स्थानीय मुद्दों से आगे बढ़कर औपनिवेशिक शासन की वैधता को चुनौती देने वाला राजनीतिक हस्तक्षेप बन चुका था।

ऐतिहासिक और संरचनात्मक पृष्ठभूमि

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने उत्तर भारत की कृषि–व्यवस्था को मूलतः राजस्व–संग्रह की दृष्टि से पुनर्संरचित किया। East India Company और बाद में British Crown के अधीन स्थापित प्रशासनिक ढाँचे के लिए भूमि–राजस्व आय का प्रमुख स्रोत था, इसलिए नीतियाँ इस प्रकार निर्मित की गईं कि अधिकतम और नियमित राजस्व–वसूली सुनिश्चित की जा सके। उत्तर–पश्चिमी प्रांतों और अवध क्षेत्र में लागू महालवारी व्यवस्था के अंतर्गत भूमि का आकलन गाँव या 'महाल' के आधार पर किया गया, किंतु व्यवहार में जमींदारों, तालुकेदारों और अन्य मध्यस्थों को राजस्व–संग्रह तथा नियंत्रण की केंद्रीय भूमिका प्रदान की गई। परिणामस्वरूप, वास्तविक खेती करने वाले कृषकों को स्वामित्व–सुरक्षा से वंचित रखा गया और वे उच्च लगान, मनमानी वसूली तथा बेदखली के जोखिम के अधीन रहे। इस प्रकार भूमि–संबंधों में असमानता संस्थागत रूप धारण कर गई, जहाँ औपनिवेशिक राज्य और स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्गों के हित परस्पर जुड़ गए।

Christopher Bayly ने Rulers, Townsmen and Bazaars (1983) में यह प्रतिपादित किया है कि औपनिवेशिक शासन ने उत्तर भारत के पारंपरिक अभिजात वर्गों को नष्ट करने के बजाय उन्हें प्रशासनिक और आर्थिक ढाँचे में समाहित कर लिया (Bayly, 1983, pp. 7–12, 286–305)। उनके अनुसार, यह गठजोड़ ग्रामीण समाज में सामाजिक पदानुक्रम और आर्थिक विषमता को संरक्षित रखने में सहायक बना। औपनिवेशिक राज्य के लिए स्थानीय जमींदार राजस्व–संग्रह और सामाजिक नियंत्रण के विश्वसनीय माध्यम थे, जबकि जमींदारों के लिए राज्य की कानूनी एवं दमनात्मक शक्ति उनके अधिकारों की सुरक्षा का साधन थी। इस प्रकार भूमि–राजस्व नीति केवल आर्थिक प्रशासन का प्रश्न नहीं रही; वह ग्रामीण सत्ता–संबंधों को पुनर्परिभाषित करने वाली राजनीतिक प्रक्रिया बन गई।

इसी संदर्भ में Eric Stokes ने The Peasant and the Raj (1978) में विस्तार से दर्शाया है कि औपनिवेशिक राजस्व नीतियों और प्रशासनिक संरचना ने कृषक समाज पर व्यापक प्रभाव डाला (Stokes, 1978, pp. 3–15, 39–58, 221–245)। स्टोक्स के अनुसार, राजस्व–दरें प्रायः उत्पादन की वास्तविक क्षमता से असंगत थीं, जिससे किसानों पर ऋण का बोझ बढ़ा और साहूकारी पर निर्भरता गहरी हुई। जब फसलें खराब होतीं या बाजार–मूल्य गिरते, तब भी राजस्व–दबाव बना रहता, जिससे आर्थिक संकट सामाजिक तनाव में परिवर्तित हो जाता। वे यह भी तर्क देते हैं कि यह शोषण केवल आर्थिक स्तर तक सीमित नहीं था; उसने ग्रामीण समाज में राजनीतिक चेतना और सामूहिक प्रतिरोध की संभावनाओं को जन्म दिया। कृषक आंदोलनों को समझने के लिए स्टोक्स ने सामाजिक संरचना, जातीय संबंधों और स्थानीय नेतृत्व की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया।

भूमि–संबंधी संरचना और औपनिवेशिक प्रशासन के इस अंतर्संबंध को Ranajit Guha ने Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983) में और गहराई से विश्लेषित किया है (Guha, 1983, pp. 1–12, 55–78, 330–335)। उनके अनुसार, किसान विद्रोह आकस्मिक प्रतिक्रियाएँ नहीं थे, बल्कि वे औपनिवेशिक प्रभुत्व और ग्रामीण प्रभुता–संबंधों के विरुद्ध संगठित नैतिक–राजनीतिक प्रतिरोध के रूप में विकसित हुए। इसी प्रकार Bipan Chandra और सहयोगियों ने India's Struggle for Independence (1988) में भूमि–राजस्व नीतियों को ग्रामीण असंतोष की प्रमुख पृष्ठभूमि के रूप में चिन्हित किया है (Chandra et al., 1988, pp. 89–95, 292–300), यद्यपि उनका विश्लेषण राष्ट्रीय आंदोलन की व्यापक रूपरेखा में निहित है।

इस संरचनात्मक पृष्ठभूमि में 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता की शुरुआत एक महत्त्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुई। Judith M. Brown ने Modern India: The Origins of an Asian Democracy (1985) में उल्लेख किया है कि 1935 के अधिनियम के अंतर्गत गठित कांग्रेस मंत्रालय सुधारवादी दृष्टिकोण रखते थे, परंतु वे औपनिवेशिक संवैधानिक सीमाओं से बँधे हुए थे (Brown, 1985, pp. 250–268)। इसी प्रकार D. A. Low द्वारा संपादित Congress and the Raj (1977) में यह दर्शाया गया है कि प्रांतीय सरकारों की नीतियाँ प्रशासनिक निरंतरता और गवर्नर की विशेष शक्तियों से प्रभावित थीं (Low, 1977, pp. 312–340)। फलतः भूमि–सुधार और लगान–राहत जैसे प्रश्नों पर अपेक्षित परिवर्तन की गति सीमित रही, जिससे किसानों की आकांक्षाओं और नीतिगत उपलब्धियों के बीच अंतर बना रहा।

1937: कांग्रेस मंत्रालय और किसान अपेक्षाएँ

भारत सरकार अधिनियम 1935 के प्रावधानों के अंतर्गत आयोजित 1937 के प्रांतीय चुनाव भारतीय राजनीति में एक निर्णायक चरण सिद्ध हुए। इन चुनावों के परिणामस्वरूप कांग्रेस ने संयुक्त प्रांत सहित कई प्रांतों में मंत्रालयों का गठन किया। इस संदर्भ में Judith Brown ने स्पष्ट किया है कि 1937 के चुनावों ने कांग्रेस को पहली बार प्रशासनिक उत्तरदायित्व का अनुभव कराया और उसे जनआकांक्षाओं तथा संवैधानिक सीमाओं के बीच संतुलन साधना पड़ा (Brown, 1972, pp. 327–332)। संयुक्त प्रांत में कांग्रेस सरकार की स्थापना ने ग्रामीण समाज, विशेषकर कृषक वर्ग, के भीतर व्यापक आशाएँ उत्पन्न कीं। लंबे समय से जमींदारी शोषण और लगान–दबाव से ग्रस्त किसानों को विश्वास था कि अब सुधारात्मक कदम उठाए जाएंगे। D. A. Low के अनुसार, 1937–39 के मंत्रालयों से ग्रामीण वर्गों की अपेक्षाएँ अत्यधिक थीं, किंतु संवैधानिक संरचना और प्रशासनिक बाधाओं ने उनके क्रियान्वयन को सीमित किया (Low, 1977, pp. 18–24)।

प्रांतीय स्वायत्तता आंशिक थी; गवर्नर को विशेषाधिकार प्राप्त थे और प्रशासनिक तंत्र का उच्च स्तर ब्रिटिश नियंत्रण में बना रहा। इस संवैधानिक ढाँचे की सीमाओं पर Brown ने टिप्पणी की है

कि कांग्रेस नेतृत्व को सत्ता–साझेदारी के इस प्रयोग में "constitutional restraint" के भीतर कार्य करना पड़ा (Brown, 1972, pp. 335–340)। संयुक्त प्रांत में कांग्रेस का सामाजिक आधार जटिल था। अनेक नेता भूमिधारी पृष्ठभूमि से आते थे, जिससे भूमि–सुधार का प्रश्न संवेदनशील बना रहा। Low ने इंगित किया है कि कांग्रेस मंत्रालयों को अपने समर्थक वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए नीतियाँ बनानी पड़ीं, जिससे भूमि–सुधार क्रमिक और सीमित रहे (Low, 1977, pp. 42–48)।

Eric Stokes ने ग्रामीण संरचना और औपनिवेशिक राजस्व–व्यवस्था के अंतर्संबंध का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि संरचनात्मक असमानताओं को दूर करने के लिए केवल आंशिक विधायी सुधार पर्याप्त नहीं थे; भूमि–अधिकारों में व्यापक परिवर्तन आवश्यक था (Stokes, 1978, pp. 266–273)। स्टोक्स के अनुसार, कांग्रेस मंत्रालयों की नीतियाँ ग्रामीण असंतोष की गहराई को पूर्णतः संबोधित नहीं कर सकीं (pp. 279–284)। इस निराशा ने किसान संगठनों को अधिक सक्रिय बनाया। Ranajit Guha के विश्लेषण में किसान राजनीति की स्वायत्तता और उसके नैतिक–राजनीतिक प्रतिरोध की प्रवृत्ति पर बल दिया गया है, जहाँ कृषक वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन के साथ सहयोग करते हुए भी अपने विशिष्ट प्रश्नों को स्वतंत्र रूप से उठाता है (Guha, 1983, pp. 7–15; 102–110)। Tom Brass ने वर्गीय विश्लेषण के आधार पर तर्क दिया है कि औपनिवेशिक भारत में किसान आंदोलनों को केवल राष्ट्रवादी राजनीति की उपधारा के रूप में नहीं देखा जा सकता; वे अपने सामाजिक–आर्थिक हितों की रक्षा हेतु स्वतंत्र राजनीतिक अभिव्यक्ति विकसित कर रहे थे (Brass, 1980, pp. 219–226)।

अतः 1937 के बाद का काल संयुक्त प्रांत में एक द्वंद्वात्मक राजनीतिक प्रक्रिया का साक्षी बना—एक ओर कांग्रेस सरकार से जुड़ी आशाएँ और सुधारवादी प्रयास, और दूसरी ओर भूमि–संबंधी संरचनात्मक प्रश्नों पर उसकी सीमाएँ। कांग्रेस के भूमिधारी और मध्यमवर्गीय समर्थन–आधार ने भूमि–सुधार को उतनी प्राथमिकता नहीं दी जितनी किसानों की अपेक्षा थी। परिणामस्वरूप किसान संघर्षों ने कांग्रेस की नीतियों के प्रति असंतोष व्यक्त करना आरंभ किया, और ग्रामीण राजनीति अधिक स्वतंत्र एवं संगठित स्वरूप ग्रहण करने लगी। यही असंतोष आगे चलकर 1940 के दशक में किसान आंदोलनों की तीव्रता और राजनीतिक चेतना के विस्तार का आधार बना।

किसान सभाओं का उदय

अखिल भारतीय किसान सभा (AIKS) की स्थापना 1936 में लखनऊ में हुई, जो उस समय संयुक्त प्रांत की राजनीतिक गतिविधियों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। यह संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर उभरती वामपंथी और समाजवादी प्रवृत्तियों, क्षेत्रीय किसान संगठनों तथा विभिन्न प्रांतीय किसान सभाओं के प्रयासों का परिणाम था (Dhanagare, 1983, pp. 90–98)। 1930 के दशक के मध्य तक यह स्पष्ट हो चुका था कि औपनिवेशिक राजस्व–नीतियाँ और जमींदारी संरचना ग्रामीण संकट की केंद्रीय वजह हैं; अतः इन प्रश्नों को केवल प्रांतीय या स्थानीय मुद्दों के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के साथ जोड़कर उठाने की आवश्यकता थी (Bayly, 1983, pp. 286–292)।

AIKS के गठन के पीछे यह बोध कार्य कर रहा था कि किसान आंदोलनों को बिखरे हुए प्रतिरोधों से आगे बढ़ाकर संगठित और वैचारिक आधार देना आवश्यक है। Ranajit Guha ने Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983) में यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसान आंदोलनों को केवल राष्ट्रीय आंदोलन का "परिशिष्ट" या नेतृत्व–निर्देशित प्रतिक्रिया के रूप में नहीं समझा जा सकता (Guha, 1983, pp. 7–15)। उनके अनुसार, ग्रामीण समाज की अपनी नैतिक–राजनीतिक भाषा, प्रतीक और प्रतिरोध की परंपराएँ थीं, जिनके माध्यम से किसान अपने अधिकारों और सम्मान की परिभाषा स्वयं गढ़ते थे (pp. 102–110)। इस दृष्टिकोण से AIKS का उदय केवल संगठनात्मक विस्तार नहीं था, बल्कि ग्रामीण समाज की आत्म–परिभाषा और स्वायत्त राजनीतिक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का सशक्त चरण था।

संयुक्त प्रांत के ग्रामीण क्षेत्रों में AIKS ने सदस्यता अभियान चलाए, गाँव–स्तरीय समितियों का गठन किया और किसानों को सामूहिक रूप से अपने अधिकारों के प्रति जागरूक किया (Dhanagare, 1983, pp. 118–126)। भूमि–अधिकारों और लगान–संशोधन की माँगों को ज्ञापनों, प्रस्तावों और प्रतिनिधिमंडलों के माध्यम से प्रांतीय सरकार तथा औपनिवेशिक प्रशासन तक पहुँचाया गया (Hauser, 1963, pp. 53–60)। इसके अतिरिक्त सांकेतिक प्रतिरोध—जैसे संगठित धरने, जुलूस, कर–विरोध की चेतावनियाँ—और अनुशासित आंदोलनात्मक रणनीतियाँ अपनाई गईं, ताकि किसान संघर्ष को वैधानिक और संगठित रूप दिया जा सके। Eric Stokes ने यह संकेत किया है कि जब किसान प्रतिरोध संगठित संस्थागत रूप ग्रहण करता है, तब वह आकस्मिक विद्रोह की सीमाओं को पार कर स्थायी राजनीतिक दबाव–समूह में परिवर्तित हो जाता है (The Peasant and the Raj, 1978, pp. 279–284)।

AIKS की गतिविधियों ने संयुक्त प्रांत में किसान राजनीति को नई दिशा दी। अब किसान केवल स्थानीय जमींदार की मनमानी या तत्कालिक आर्थिक राहत की माँग तक सीमित नहीं रहे; वे भूमि–अधिकार, सामाजिक सम्मान और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे व्यापक प्रश्नों से जुड़ने लगे (Guha, 1983, pp. 111–118)। इस प्रक्रिया ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ उनके संबंध को भी पुनर्परिभाषित किया। D. N. Dhanagare ने Peasant Movements in India 1920–1950 (1983) में यह दिखाया है कि 1930 और 1940 के दशकों में किसान सभाओं ने राष्ट्रीय राजनीति के भीतर वर्गीय प्रश्नों को अधिक स्पष्टता से सामने रखा, जिससे स्वतंत्रता संघर्ष की सामाजिक आधारभूमि विस्तृत हुई (pp. 140–152)। इसी प्रकार Walter Hauser के शोध (Journal of Asian Studies में प्रकाशित लेखों सहित) में यह रेखांकित किया गया है कि संयुक्त प्रांत में किसान संगठनों की सक्रियता ने कांग्रेस नेतृत्व को ग्रामीण प्रश्नों पर अधिक स्पष्ट रुख अपनाने के लिए बाध्य किया (Hauser, 1963, pp. 61–67)।

AIKS का प्रभाव केवल संगठनात्मक विस्तार तक सीमित नहीं था; उसने ग्रामीण समाज में राजनीतिक अधिकारों की धारणा को गहरा किया। किसानों ने यह अनुभव करना शुरू किया कि स्वराज केवल औपनिवेशिक शासन से मुक्ति का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना का भी प्रश्न है (Dhanagare, 1983, pp. 153–160)। जमींदारी राजस्व और भूमि–अधिकार के मुद्दे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य से अभिन्न रूप से जुड़ गए। Christopher Bayly के विश्लेषण के आलोक में यह समझा जा सकता है कि जब ग्रामीण समाज संगठित रूप से अपनी माँगें प्रस्तुत करता है, तो वह औपनिवेशिक राज्य और स्थानीय प्रभुत्वशाली वर्गों दोनों के लिए चुनौती बन जाता है (Bayly, 1983, pp. 300–306)। AIKS ने संयुक्त प्रांत के किसान आंदोलन को संगठनात्मक, वैचारिक और राजनीतिक आधार प्रदान किया। उसने आर्थिक प्रश्नों को राजनीतिक अधिकारों के व्यापक विमर्श से जोड़ा और ग्रामीण समाज को आत्म–चेतना की नई दिशा दी। परिणामस्वरूप किसान संघर्ष केवल स्थानीय समस्याओं के समाधान तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह औपनिवेशिक सत्ता–संरचना और सामाजिक असमानताओं के विरुद्ध एक संगठित, अनुशासित और व्यापक सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के रूप में विकसित हुआ।

आर्थिक संकट और वर्ग–गत संरचना

संयुक्त प्रांत की कृषि अर्थव्यवस्था 1930 और 1940 के दशकों में गहरे संकट से गुजर रही थी (Dhanagare, 1983, pp. 120–128)। भूमि–संबंधों की जमींदारी संरचना, ऊँची लगान–दरें, अनिश्चित मानसूनी उत्पादन और बाजार–मूल्यों की अस्थिरता ने कृषक जीवन को असुरक्षित बना दिया था। लगान केवल एक आर्थिक देनदारी नहीं था, बल्कि वह ग्रामीण सत्ता–संबंधों का प्रतीक भी था, जिसके माध्यम से जमींदार और राजस्व–अधिकारी किसानों पर नियंत्रण बनाए रखते थे (Stokes, 1978, pp. 210–218)। राजस्व–दरें प्रायः उत्पादन की वास्तविक क्षमता और बाजार–स्थितियों से असंगत थीं; फलतः फसल खराब होने या कीमतें गिरने की स्थिति में भी किसानों को निर्धारित देयता चुकानी पड़ती थी (Stokes, 1978, pp. 266–273)। इस असंतुलन ने साहूकारी ऋण पर निर्भरता को बढ़ाया। महाजन और साहूकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनिवार्य वित्तीय स्रोत बन गए, किंतु उनकी ब्याज–दरें ऊँची थीं और ऋण–चक्र से बाहर निकलना कठिन था (Dhanagare, 1983, pp. 132–138)। परिणामस्वरूप ऋणग्रस्तता स्थायी आर्थिक पराधीनता में परिवर्तित हो गई। बेदखली का प्रश्न इस संकट को और गहरा करता था। जिन काश्तकारों के पास स्थायी अधिकार नहीं थे, वे लगान या ऋण न चुका पाने की स्थिति में भूमि से वंचित हो जाते थे (Stokes, 1978, pp. 279–284)। इससे सामाजिक असुरक्षा और आर्थिक अस्थिरता दोनों बढ़ती थीं। Eric Stokes ने The Peasant and the Raj (1978) में स्पष्ट किया है कि औपनिवेशिक राजस्व–व्यवस्था ने कृषकों की उत्पादन–क्षमता को कराधान की कसौटी पर कसते हुए उन्हें ऋण और बेदखली के चक्र में धकेल दिया (pp. 266–273)। उनके अनुसार, यह संरचना केवल आर्थिक शोषण तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसने ग्रामीण समाज में शक्ति–संतुलन को इस प्रकार गढ़ा कि जमींदार और साहूकार राज्य–संरचना के संरक्षण में सशक्त बने रहे (pp. 285–290)।

1930 के दशक से किसान आंदोलन में वर्गीय असमानता अधिक स्पष्ट रूप से उभरने लगी। ब्रास के अनुसार, ग्रामीण समाज को केवल "किसान" की एकसमान श्रेणी के रूप में नहीं देखा जा सकता; उसमें संपन्न कृषक, मध्यम काश्तकार, भूमिहीन मजदूर और जमींदार—सभी के हित अलग–अलग थे। आर्थिक संकट ने इन अंतर्विरोधों को तीव्र किया और संघर्ष की दिशा को केवल राजस्व–विरोध से आगे बढ़ाकर सामाजिक सत्ता–संरचनाओं की आलोचना तक पहुँचा दिया (Brass, 1994, pp. 60–68)। इस प्रकार किसान आंदोलन में वर्गीय चेतना का विकास हुआ, जिसने ग्रामीण राजनीति को अधिक संगठित और वैचारिक रूप प्रदान किया। D. N. Dhanagare ने Peasant Movements in India 1920–1950 (1983) में दर्शाया है कि ऋणग्रस्तता और बेदखली के प्रश्नों ने किसान संगठनों को व्यापक समर्थन दिलाया, क्योंकि ये समस्याएँ विभिन्न क्षेत्रों में सामान्य अनुभव बन चुकी थीं (pp. 140–152)। इसी प्रकार Ranajit Guha ने किसान प्रतिरोध की नैतिक–राजनीतिक भाषा का विश्लेषण करते हुए बताया कि जब आर्थिक शोषण सामाजिक अपमान और अधिकार–ह्रास के अनुभव से जुड़ता है, तब प्रतिरोध केवल आर्थिक सुधार की माँग तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह सत्ता–व्यवस्था के नैतिक औचित्य को चुनौती देने लगता है (Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India, 1983, pp. 7–15, 111–118)।

संयुक्त प्रांत में यह प्रक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। साहूकारी ऋण और ऊँची राजस्व–दरें किसानों को आर्थिक रूप से निर्बल बना रही थीं, जबकि बेदखली की आशंका उन्हें सामाजिक रूप से असुरक्षित कर रही थी। इन परिस्थितियों में किसान संघर्षों ने आर्थिक माँगों के साथ–साथ भूमि–अधिकार, सामाजिक सम्मान और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्नों को भी उठाना शुरू किया (Dhanagare, 1983, pp. 153–160)। वर्गीय असमानता की यह स्पष्टता आंदोलन को अधिक तीक्ष्ण बनाती गई, क्योंकि अब संघर्ष केवल लगान में कमी तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह जमींदारी संरचना और उससे जुड़े प्रभुत्वशाली संबंधों के विरुद्ध व्यापक सामाजिक चुनौती बन गया। इस प्रकार संयुक्त प्रांत की कृषि अर्थव्यवस्था में गहराते लगान, ऋण और बेदखली के संकट ने किसान आंदोलन को नई दिशा दी। आर्थिक दबावों ने सामाजिक संरचना की असमानताओं को उजागर किया, और वर्गीय अंतर्विरोधों की स्पष्टता ने संघर्ष को वैचारिक और राजनीतिक आयाम प्रदान किया। परिणामस्वरूप किसान आंदोलन केवल तात्कालिक राहत की माँग नहीं रहा, बल्कि वह ग्रामीण सत्ता–संबंधों और औपनिवेशिक संरचना के विरुद्ध एक संगठित सामाजिक–राजनीतिक प्रतिरोध में परिवर्तित हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध और ग्रामीण संकट

1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ ने भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था को गहरे और बहुआयामी संकट में डाल दिया (Tomlinson, 1979, pp. 98–105)। ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य ने युद्ध–प्रयासों के समर्थन हेतु भारत को संसाधन–आधार के रूप में उपयोग किया, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों पर अतिरिक्त आर्थिक दबाव पड़ा। युद्ध के लिए अनाज, कच्चा माल और अन्य कृषि–उत्पादों की अनिवार्य आपूर्ति सुनिश्चित करने हेतु विभिन्न नियंत्रण–नीतियाँ लागू की गईं (Roy, 2000, pp. 214–221)। अनेक क्षेत्रों में जबरन खरीद (procurement) और नियंत्रित मूल्य–प्रणालियाँ लागू की गईं, जिससे किसानों को बाजार–भाव के अनुरूप लाभ नहीं मिल पाया। दूसरी ओर, आवश्यक उपभोग–वस्तुओं की कमी और परिवहन–संकट के कारण मूल्य–वृद्धि तेज़ हो गई (Tomlinson, 1979, pp. 110–118)। इस प्रकार कृषि–उत्पादन और ग्रामीण उपभोग—दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। David Arnold ने अपने शोध—विशेषतः 1980 के दशक में प्रकाशित लेखों और Famine: Social Crisis and Historical Change (1988) — में यह दिखाया है कि युद्ध–कालीन नीतियों ने ग्रामीण बाजार–व्यवस्था को अस्थिर कर दिया (Arnold, 1988, pp. 145–156)। अनाज की सरकारी खरीद, राशनिंग, परिवहन–नियंत्रण और निर्यात–आयात प्रतिबंधों ने स्थानीय आपूर्ति–श्रृंखलाओं को बाधित किया (pp. 160–168)। परिणामस्वरूप कई क्षेत्रों में खाद्यान्न संकट, जमाखोरी और मूल्य–वृद्धि की समस्याएँ उत्पन्न हुईं। अर्नोल्ड का तर्क है कि यह संकट केवल प्राकृतिक आपदाओं का परिणाम नहीं था, बल्कि राज्य की नीतियों और बाजार–हस्तक्षेप की संरचनात्मक विफलताओं से जुड़ा था (pp. 172–180)। ग्रामीण समाज में यह धारणा प्रबल हुई कि औपनिवेशिक शासन युद्ध–हितों को प्राथमिकता दे रहा है, जबकि किसानों की आजीविका और खाद्य–सुरक्षा की उपेक्षा की जा रही है। युद्ध–कालीन परिस्थितियों ने ऋणग्रस्तता और लगान–दबाव की समस्याओं को भी बढ़ाया। उत्पादन–लागत में वृद्धि और उपभोग–वस्तुओं के महँगे होने से किसानों की वास्तविक आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा (Roy, 2000, pp. 222–229)। B. R. Tomlinson ने The Political Economy of the Raj (1979) में इंगित किया है कि युद्ध के दौरान औपनिवेशिक राज्य की वित्तीय नीतियाँ मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने में असफल रहीं, जिससे ग्रामीण क्रय–शक्ति प्रभावित हुई (Tomlinson, 1979, pp. 120–128)। इसी प्रकार Tirthankar Roy ने औपनिवेशिक भारत की आर्थिक संरचना का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि युद्धकालीन बाजार–उतार–चढ़ाव ने कृषि–आधारित समाज में अस्थिरता को और गहरा किया (The Economic History of India 1857–1947, 2000, pp. 230–236)।

इन आर्थिक तनावों के समानांतर राजनीतिक परिदृश्य में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1939 में जब ब्रिटिश सरकार ने भारत

को बिना परामर्श युद्ध में शामिल किया, तो विरोधस्वरूप कांग्रेस मंत्रालयों ने त्यागपत्र दे दिया (Low, 1977, pp. 60–68)। संयुक्त प्रांत में भी कांग्रेस सरकार के इस्तीफे के बाद राजनीतिक रिक्तता उत्पन्न हुई। यह रिक्तता औपनिवेशिक प्रशासन की पुनर्स्थापना के रूप में तो दिखाई दी, किंतु ग्रामीण समाज के लिए यह एक अवसर भी बनी, क्योंकि अब किसान संगठन अधिक स्वतंत्र रूप से सक्रिय हो सके। कांग्रेस के सत्ता से बाहर होने के बाद किसान सभाओं और अन्य ग्रामीण संगठनों ने युद्ध–कालीन नीतियों की आलोचना को तीव्र किया और लगान, जबरन आपूर्ति तथा मूल्य–वृद्धि के प्रश्नों पर संगठित प्रतिरोध प्रारंभ किया (Low, 1977, pp. 72–80)। D. A. Low द्वारा संपादित Congress and the Raj (1977) में यह संकेत मिलता है कि 1939 के बाद की राजनीतिक परिस्थिति ने राष्ट्रीय आंदोलन और प्रांतीय राजनीति के संबंधों को पुनर्परिभाषित किया (pp. 81–90)। इसी परिवर्तित संदर्भ में किसान संगठनों ने अपनी माँगों को अधिक स्पष्ट राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना प्रारंभ किया। युद्ध–कालीन संकट ने ग्रामीण असंतोष को केवल आर्थिक शिकायत तक सीमित नहीं रखा; वह औपनिवेशिक राज्य की नीतिगत वैधता पर प्रश्नचिह्न लगाने लगा। 1939 के बाद का दौर संयुक्त प्रांत में कृषि और राजनीति दोनों के लिए संक्रमणकाल सिद्ध हुआ। युद्ध के लिए संसाधनों की वसूली, खाद्यान्न की जबरन आपूर्ति, बाजार–नियंत्रण और मूल्य–वृद्धि ने ग्रामीण जीवन को अस्थिर कर दिया। साथ ही कांग्रेस सरकार के त्यागपत्र से उत्पन्न राजनीतिक रिक्तता ने किसान संगठनों को अधिक सक्रिय और मुखर बनने का अवसर प्रदान किया। आर्थिक संकट और राजनीतिक अनिश्चितता के इस संयोजन ने किसान आंदोलन को अधिक तीव्र, संगठित और वैचारिक रूप दिया, जो आगे चलकर 1940 के दशक में व्यापक ग्रामीण प्रतिरोध का आधार बना।

1942 भारत छोड़ो आंदोलन और ग्रामीण सक्रियता

1942 का 'भारत छोड़ो आंदोलन' भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास में वह निर्णायक क्षण था जब औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध असंतोष व्यापक जनविद्रोह में परिवर्तित हो गया (Sarkar, 1983, pp. 411–420)। Indian National Congress द्वारा अगस्त 1942 में पारित प्रस्ताव और उसके तुरंत बाद शीर्ष नेतृत्व की गिरफ्तारी ने आंदोलन को नेतृत्वविहीन तो किया, परंतु यही परिस्थिति उसे अधिक स्वस्फूर्त, स्थानीय और जनाधारित भी बनाती चली गई (Low, 1991, pp. 297–305)। विशेषकर संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के ग्रामीण क्षेत्रों में आंदोलन ने तीव्र और कभी–कभी उग्र रूप धारण किया। यद्यपि कांग्रेस की आधिकारिक रणनीति किसान सभा जैसे संगठनों के साथ प्रत्यक्ष औपचारिक एकीकरण की नहीं थी, फिर भी जमीनी स्तर पर दोनों धाराओं के समर्थकों में अंतः क्रिया और सहयोग देखा गया। पूर्वी संयुक्त प्रांत—विशेषकर गोरखपुर, आज़मगढ़ और बलिया जैसे जिलों—में किसानों ने आंदोलन में सक्रिय भागीदारी की (Pandey, 1982, pp. 236–244)। यहाँ आंदोलन केवल प्रतीकात्मक विरोध तक सीमित नहीं रहा, बल्कि कई स्थानों पर प्रशासनिक ढाँचे को चुनौती देने की ठोस कोशिशें की गईं। Gyanendra Pandey ने अपनी प्रसिद्ध कृति The Ascendancy of the Congress in Uttar Pradesh, 1926–34 (1982) और बाद के शोध–लेखों में यह रेखांकित किया है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के संगठनात्मक विस्तार ने ग्रामीण समाज में पहले से मौजूद असंतोष को एक राजनीतिक भाषा और संरचना प्रदान की थी (pp. 210–220)। 1942 में जब आंदोलन का आह्वान हुआ, तो यह संगठित आधार तत्काल सक्रिय हो उठा। बलिया में कुछ समय के लिए समानांतर प्रशासन की स्थापना, सरकारी दफ्तरों पर कब्ज़ा, तथा स्थानीय अधिकारियों को हटाकर वैकल्पिक व्यवस्था चलाने के प्रयास इस बात का संकेत थे कि आंदोलन ने औपनिवेशिक सत्ता की वैधता को प्रत्यक्ष चुनौती दी (Sarkar, 1983, pp. 423–428)।

बलिया के प्रसंग में स्थानीय नेतृत्व—जैसे चित्तू पांडे—ने प्रतीकात्मक रूप से स्वतंत्र शासन की घोषणा की, जिसे औपनिवेशिक दस्तावेज़ों में 'parallel government' के रूप में दर्ज किया गया (Low, 1991, pp. 310–314)। यह घटना केवल स्थानीय उग्रता का परिणाम नहीं थी, बल्कि वर्षों से चल रहे ग्रामीण राजनीतिकरण की परिणति थी। Shahid Amin ने Event] Metaphor] Memory: Chauri Chaura 1922–1992 (1995) में यह दिखाया है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्रामीण समाज पहले से ही औपनिवेशिक सत्ता और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच जटिल अंतः क्रियाओं का स्थल रहा था; 1942 का विस्फोट उसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझा जाना चाहिए (।उपद, 1995, चच. 34दृ42, 176दृ184)। D. A. Low ने Britain and Indian Nationalism: The Imprint of Ambiguity 1929–1942 (1991) में यह तर्क दिया है कि 1942 का आंदोलन भारतीय राजनीति को निर्णायक रूप से जनाधारित बना गया (pp. 295–305)। उनके अनुसार, इस आंदोलन ने ग्रामीण जनता को राष्ट्रीय राजनीति के साथ प्रत्यक्ष रूप से जोड़ दिया। अब राष्ट्रीय संघर्ष केवल शहरी अभिजात वर्ग या शिक्षित मध्यमवर्ग की सीमाओं में नहीं रहा; वह गाँवों तक पहुँच गया, जहाँ किसान अपने आर्थिक प्रश्नों—लगान, बेगार, जबरन आपूर्ति, पुलिसिया दमन—को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रश्न से जोड़ने लगे (Sarkar, 1983, pp. 418–425)। इस प्रकार किसान–संबंधी मुद्दे व्यापक सामाजिक न्याय और राजनीतिक स्वाधीनता की रूपरेखा में समाहित होने लगे।

इसके अतिरिक्त Judith M- Brown ने Gandhi's Rise to Power (1972) तथा अन्य अध्ययनों में यह संकेत किया है कि 1930 और 1940 के दशकों में कांग्रेस की संगठनात्मक रणनीतियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया था (Brown, 1972, pp. 330–338)। 1942 में जब औपचारिक नेतृत्व अनुपस्थित था, तब यही चेतना स्थानीय स्तर पर प्रतिरोध का आधार बनी। इसी प्रकार Sumit Sarkar ने Modern India 1885–1947 (1983) में लिखा है कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक जन–विद्रोह का स्वरूप दिया, जिसमें किसान, मजदूर और निम्न–मध्यवर्ग की भागीदारी ने इसे सामाजिक आधार प्रदान किया (pp. 411–430)। संयुक्त प्रांत के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 1942 के आंदोलन में भागीदारी केवल कांग्रेस–समर्थक किसानों तक सीमित नहीं थी; कई स्थानों पर किसान सभा और अन्य वामपंथी समूहों के कार्यकर्ता भी स्थानीय प्रतिरोध में शामिल हुए (Pandey, 1982, pp. 245–252)। यद्यपि अखिल भारतीय स्तर पर All India Kisan Sabha की नीति और कांग्रेस की रणनीति में मतभेद थे—विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध और सोवियत संघ के प्रति दृष्टिकोण के प्रश्न पर—फिर भी संयुक्त प्रांत के ग्रामीण क्षेत्रों में साझा आर्थिक शिकायतों ने सहयोग की संभावनाएँ उत्पन्न कीं (Low, 1991, pp. 318–324)। इस प्रकार 1942 का 'भारत छोड़ो आंदोलन' केवल औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध एक राजनीतिक विद्रोह नहीं था, बल्कि उसने ग्रामीण भारत को राष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में ला खड़ा किया। पूर्वी संयुक्त प्रांत में किसानों की सक्रिय भागीदारी, बलिया में समानांतर प्रशासन की स्थापना, और स्थानीय स्तर पर औपनिवेशिक संस्थाओं को चुनौती देने की घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन अब ग्रामीण समाज की आकांक्षाओं और असंतोष से गहराई से जुड़ चुका था। आंदोलन ने किसान प्रश्न को व्यापक सामाजिक न्याय, स्वशासन और राजनीतिक समानता की बहस में समाहित कर दिया—एक ऐसी प्रक्रिया जिसने स्वतंत्रता–प्राप्ति के पूर्ववर्ती वर्षों में भारतीय राजनीति की दिशा और प्रकृति को निर्णायक रूप से प्रभावित किया।

कांग्रेस बनाम वामपंथी वैचारिकी

किसान आंदोलन के विकासक्रम में वैचारिक मतभेदों का उभरना एक स्वाभाविक तथा ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी। 1930 और 1940 के दशकों में जब ग्रामीण भारत में राजनीतिक चेतना का विस्तार हुआ, तब किसान संगठनों के भीतर यह प्रश्न अधिक तीव्रता से उठने लगा कि उनके संघर्ष का अंतिम लक्ष्य क्या होना चाहिए—औपनिवेशिक शासन से मुक्ति तक सीमित रहना या सामाजिक–आर्थिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन तक पहुँचना। Indian National Congress के नेतृत्व ने प्रायः एक मध्यम मार्ग अपनाया। वह जमींदारी प्रथा में सुधार, लगान में कमी और प्रशासनिक दमन के विरुद्ध आवाज़ उठाने को तैयार था, किंतु व्यापक और त्वरित भूमि–सुधार या जमींदारी उन्मूलन जैसे उग्र कार्यक्रमों को लेकर सावधानी बरतता था। इसका कारण आंशिक रूप से यह भी था कि कांग्रेस का सामाजिक आधार विविध था—जिसमें किसान, शहरी मध्यवर्ग, पेशेवर वर्ग और कुछ क्षेत्रों में जमींदार भी सम्मिलित थे (Bandyopadhyay, 2004, pp. 326–332)। इसके विपरीत, वामपंथी तत्व—विशेषकर Communist Party of India और कांग्रेस समाजवादी धारा से जुड़े कार्यकर्ता—किसानों को अधिक उग्र कार्यक्रमों के लिए प्रेरित कर रहे थे। उनके अनुसार भूमि–संबंधों में संरचनात्मक परिवर्तन के बिना ग्रामीण शोषण समाप्त नहीं हो सकता था। जमींदारी उन्मूलन, भूमिहीनों को भूमि का पुनर्वितरण, तथा उत्पादन–संबंधों में वर्गीय असमानताओं का अंत—ये माँगें किसान राजनीति के भीतर एक वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत कर रही थीं। All India Kisan Sabha जैसे मंचों पर यह वैचारिक तनाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जहाँ कांग्रेस–समर्थक और वामपंथी कार्यकर्ता दोनों सक्रिय थे, किंतु उनकी रणनीतियाँ और प्राथमिकताएँ भिन्न थीं (Desai, 1979, pp. 18–27)।

Tom Brass ने New Farmers' Movements in India (1994) में तर्क दिया है कि किसान संघर्ष की राजनीति में वर्गीय चेतना का उभार इस वैचारिक द्वंद्व का एक केंद्रीय कारण था। उनके अनुसार, जब किसान स्वयं को केवल 'रैयत' या 'कृषक' के रूप में नहीं, बल्कि एक शोषित वर्ग के रूप में देखने लगे, तब उनके संघर्ष का चरित्र भी परिवर्तित हुआ। यह परिवर्तन उन्हें सुधारवादी कार्यक्रमों से आगे बढ़ाकर संरचनात्मक बदलाव की माँग की ओर ले गया। ब्रास के विश्लेषण में किसान आंदोलन केवल राष्ट्रवादी राजनीति का विस्तार नहीं था; वह ग्रामीण वर्ग–संबंधों की पुनर्संरचना का भी प्रयास था (Brass, 1994, pp. 3–15)। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो कांग्रेस का मध्यमार्गी रुख और वामपंथियों की उग्र माँगें एक ही सामाजिक प्रक्रिया के दो भिन्न राजनीतिक अनुवाद थे। इसी संदर्भ में Ranajit Guha ने Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983) में यह प्रतिपादित किया कि किसान प्रतिरोध को केवल अभिजात राष्ट्रवादी नेतृत्व के परिप्रेक्ष्य में समझना पर्याप्त नहीं है। उनके अनुसार, ग्रामीण विद्रोहों और आंदोलनों की अपनी स्वायत्त वैचारिक संरचना थी, जो कभी–कभी कांग्रेस नेतृत्व की सीमाओं से आगे निकल जाती थी। गुहा का तर्क है कि किसान राजनीति ने अपने वैचारिक ढाँचे में वाम तत्वों को समायोजित किया, किंतु वह पूरी तरह किसी एक केंद्रीय नेतृत्व के नियंत्रण में नहीं थी (Guha, 1983, pp. 1–8, 336–342)। इस दृष्टि से किसान आंदोलन को 'सबाल्टर्न' चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है, जिसमें वर्ग, जाति और स्थानीय सत्ता–संबंधों के प्रश्न अंतर्निहित थे।

इसके अतिरिक्त A. R. Desai ने Peasant Struggles in India (1979) में यह दर्शाया है कि भारतीय किसान आंदोलनों की वैचारिक दिशा समय और क्षेत्र के अनुसार परिवर्तित होती रही, किंतु उनमें एक सामान्य प्रवृत्ति सामाजिक न्याय और आर्थिक पुनर्वितरण की थी। देसाई के अनुसार, वामपंथी प्रभाव ने किसान संगठनों को वर्गीय विश्लेषण की भाषा प्रदान की, जबकि कांग्रेस ने उन्हें व्यापक राष्ट्रीय वैधता और संगठनात्मक संसाधन दिए (Desai, 1979, pp. 41–52)। इस प्रकार किसान आंदोलन के भीतर उभरे वैचारिक मतभेद केवल व्यक्तियों या दलों के बीच संघर्ष नहीं थे, बल्कि वे ग्रामीण समाज में उभरती वर्गीय चेतना और राजनीतिक आकांक्षाओं के संकेतक थे। कांग्रेस का मध्यम मार्ग राष्ट्रीय एकता और व्यापक गठबंधन की आवश्यकता से प्रेरित था, जबकि वामपंथी तत्व भूमि–संबंधों के क्रांतिकारी पुनर्गठन की दिशा में अग्रसर थे। इन दोनों प्रवृत्तियों की अंतः क्रिया ने किसान आंदोलन को बहुआयामी स्वरूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप, किसान प्रश्न केवल औपनिवेशिक शासन के विरोध तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह सामाजिक–आर्थिक न्याय, भूमि–अधिकार और वर्गीय पुनर्संरचना की व्यापक बहस का हिस्सा बन गया।

स्वतंत्रता और भूमि–सुधार राजनीति

1946 के प्रांतीय चुनावों और स्वतंत्रता की औपचारिक घोषणा से पूर्व ही भारतीय राजनीति में भूमि–सुधार और जमींदारी उन्मूलन की माँग अत्यंत तीव्र हो चुकी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की आर्थिक उथल–पुथल, ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती वर्गीय चेतना, तथा 1930–40 के दशकों में हुए किसान आंदोलनों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न सामाजिक–आर्थिक पुनर्गठन से अलग नहीं किया जा सकता। 1946 के चुनावों में विभिन्न प्रांतीय घोषणापत्रों में भूमि–सम्बंधी सुधार प्रमुख विषय के रूप में उभरे। यह परिवर्तन इस बात का संकेत था कि भूमि–अधिकार, लगान–व्यवस्था और जमींदारी संरचना पर पुनर्विचार अब केवल किसान संगठनों की माँग नहीं, बल्कि व्यापक लोकतांत्रिक विमर्श का हिस्सा बन चुका था (Chandra et al., 1988, pp. 506–512)। Christopher Bayly ने Indian Society and the Making of the British Empire (1988) में इस तथ्य पर बल दिया है कि औपनिवेशिक शासन के अंतिम चरण में भारतीय समाज में सत्ता–संबंधों की पुनर्परिभाषा की प्रक्रिया तेज़ हो गई थी। बेयली के अनुसार, भूमि–सम्बंधी अधिकारों और ग्रामीण सत्ता–संरचना पर प्रश्न उठाना लोकतांत्रिक राजनीति की स्वाभाविक परिणति थी। जैसे–जैसे मताधिकार का विस्तार हुआ और प्रांतीय स्वायत्तता की सीमित व्यवस्था लागू हुई, वैसे–वैसे ग्रामीण मतदाता और किसान समुदाय राजनीतिक दलों के लिए निर्णायक शक्ति बनने लगे। परिणामस्वरूप, भूमि–सुधार की माँग चुनावी राजनीति के केंद्र में आ गई (Bayly, 1988, pp. 284–290)।

इसी संदर्भ में Bipan Chandra ने India's Struggle for Independence (1988) में उल्लेख किया है कि 1940 के दशक के किसान आंदोलनों—चाहे वे तेलंगाना, बंगाल या संयुक्त प्रांत में हों—ने राष्ट्रीय नेतृत्व को यह समझने के लिए बाध्य किया कि स्वतंत्रता के बाद सामाजिक न्याय को संस्थागत रूप देना आवश्यक होगा। भूमि–सुधार केवल आर्थिक नीति का प्रश्न नहीं था; वह राजनीतिक वैधता और लोकतांत्रिक स्थिरता का भी आधार बन गया (Chandra et al., 1988, pp. 515–522)। 1946 के चुनावों में Indian National Congress ने अपने कार्यक्रमों में जमींदारी उन्मूलन और कृषक अधिकारों के संरक्षण की प्रतिबद्धता व्यक्त की। यद्यपि इन वादों की प्रकृति और क्रियान्वयन की गति बाद में बहस का विषय बनी, तथापि यह स्पष्ट था कि किसान प्रश्न अब राष्ट्रीय एजेंडा का स्थायी अंग बन चुका था (Brass, 1994, pp. 24–31)। Paul R. Brass ने The Politics of India Since Independence (1994) में यह विश्लेषण किया है कि स्वतंत्रता–पूर्व राजनीतिक संघर्षों ने स्वतंत्र भारत की नीतिगत दिशा को गहराई से प्रभावित किया, विशेषकर भूमि–सुधार के क्षेत्र में।

किसान संघर्षों की भूमिका इस प्रक्रिया में निर्णायक रही। 1930 और 1940 के दशकों में हुए आंदोलनों ने ग्रामीण समाज में

संगठन, नेतृत्व और वैचारिक स्पष्टता विकसित की। Daniel Thorner ने भारतीय कृषि संरचना पर अपने अध्ययनों में यह दर्शाया कि जमींदारी व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से भी अव्यवहारिक और सामाजिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण हो चुकी थी (Thorner & Thorner, 1962, pp. 45–60)। स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न प्रांतों में पारित जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों—जैसे उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम (1950)—की बौद्धिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि इन्हीं संघर्षों में निहित थी। इसके अतिरिक्त Francine R. Frankel ने India's Political Economy 1947द्2004 (2005) में यह प्रतिपादित किया है कि स्वतंत्रता–प्राप्ति के तुरंत बाद भूमि–सुधार की दिशा में उठाए गए कदम केवल प्रशासनिक निर्णय नहीं थे, बल्कि वे लंबे समय से चले आ रहे किसान आंदोलनों और लोकतांत्रिक दबावों की परिणति थे। इन सुधारों का उद्देश्य ग्रामीण शक्ति–संतुलन को पुनर्गठित करना, सामंती अवशेषों को समाप्त करना और कृषि उत्पादन को अधिक न्यायसंगत आधार पर संगठित करना था (Frankel, 2005, pp. 96–110)। 1946 के चुनाव और स्वतंत्रता की घोषणा से पूर्व ही भूमि–सुधार तथा जमींदारी उन्मूलन की माँग भारतीय लोकतांत्रिक विमर्श का केंद्रीय विषय बन चुकी थी। किसान संघर्षों ने इस विमर्श को नैतिक वैधता, जनाधार और राजनीतिक ऊर्जा प्रदान की। स्वतंत्रता के पश्चात् पारित भूमि–सुधार कानूनों और कृषि नीति–निर्धारण की आधारशिला इन्हीं पूर्ववर्ती संघर्षों और बहसों में निहित थी। इस प्रकार किसान आंदोलनों ने न केवल औपनिवेशिक शासन को चुनौती दी, बल्कि स्वतंत्र भारत के सामाजिक–आर्थिक ढाँचे के निर्माण में भी मौलिक योगदान दिया।

निष्कर्ष

1937–1947 का दशक संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलन का संक्रमणकाल सिद्ध हुआ, क्योंकि इसने न केवल आर्थिक असंतोष को राजनीतिक प्रतिरोध में परिवर्तित किया, बल्कि किसानों को राष्ट्रीय विमर्श और लोकतांत्रिक चेतना के केंद्र में भी लाया। इस संघर्ष ने औपनिवेशिक प्रशासन, सामंती प्रभुत्व और सामाजिक असमानताओं को चुनौती दी, जिसने स्वतंत्रता पश्चात् भारत की भूमि–नीति, खासकर भूमि–सुधार और जमींदारी उन्मूलन पर गहरा प्रभाव डाला। इस शोध के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि संयुक्त प्रांत के किसान आंदोलन केवल राष्ट्रीय आंदोलन का सहायक कार्यक्रम नहीं थे, बल्कि वे स्वयं एक स्वायत्त सामाजिक–राजनीतिक प्रक्रिया थे, जिन्होंने ग्रामीण राजनीति को नए सिरे से संगठित किया।

इस दशक में किसान संगठनों—विशेषकर All India Kisan Sabha और प्रांतीय किसान सभाओं—की सक्रियता उल्लेखनीय रही। इन संगठनों ने लगान में कटौती, बेदखली पर रोक, और जमींदारी उन्मूलन जैसी माँगों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। A. R. Desai ने Peasant Struggles in India (1979) में यह प्रतिपादित किया है कि 1930 और 1940 के दशकों में किसान आंदोलनों का चरित्र अधिक राजनीतिक और वर्ग–सचेत हो गया था (Desai, 1979, pp. 35–44)। उनके अनुसार, इस काल में किसान आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता–संघर्ष के समानांतर एक स्वायत्त सामाजिक–राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में विकसित हुआ, जिसने ग्रामीण समाज की शक्ति–संरचना को चुनौती दी। 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन ने इस प्रवृत्ति को और तीव्र किया। ग्रामीण क्षेत्रों में औपनिवेशिक प्रशासन के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रतिरोध, राजस्व–अदायगी से इंकार, तथा स्थानीय सत्ता–संरचनाओं को चुनौती देने की घटनाएँ इस बात का प्रमाण थीं कि किसान अब केवल आर्थिक सुधारों की याचना नहीं कर रहे थे, बल्कि औपनिवेशिक शासन और सामंती प्रभुत्व की वैधता पर प्रश्न उठा रहे थे। Ranajit Guha ने Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983) में यह तर्क दिया है कि किसान प्रतिरोध को समझने के लिए उसे केवल अभिजात राष्ट्रवादी नेतृत्व के परिप्रेक्ष्य में नहीं, बल्कि उसकी अपनी वैचारिक और सांस्कृतिक संरचना में देखना आवश्यक है (Guha, 1983, pp. 7–15, 330–335)। संयुक्त प्रांत के संदर्भ में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि यहाँ किसान आंदोलन ने स्थानीय स्तर पर स्वतंत्र पहल और संगठनात्मक क्षमता का प्रदर्शन किया।

यह दशक किसानों को राष्ट्रीय विमर्श और लोकतांत्रिक चेतना के केंद्र में लाने का भी काल था। 1946 के चुनावों तक आते–आते भूमि–सुधार और जमींदारी उन्मूलन जैसे प्रश्न चुनावी राजनीति के मुख्य मुद्दे बन चुके थे। Christopher Bayly ने यह इंगित किया है कि औपनिवेशिक शासन के अंतिम चरण में ग्रामीण सत्ता–संबंधों की पुनर्परिभाषा लोकतांत्रिक राजनीति का अभिन्न अंग बन गई थी (Indian Society and the Making of the British Empire, 1988, pp. 286–292)। इस प्रकार, संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलन ने न केवल प्रशासनिक नीतियों को प्रभावित किया, बल्कि स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद की भूमि–नीति की बौद्धिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि भी तैयार की।

स्वतंत्रता के पश्चात् उत्तर प्रदेश में पारित जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि–सुधार संबंधी कानूनों की जड़ें इसी पूर्ववर्ती संघर्ष में निहित थीं। Daniel Thorner और Francine R. Frankel जैसे विद्वानों ने यह रेखांकित किया है कि स्वतंत्र भारत की कृषि–नीतियों को समझने के लिए स्वतंत्रता–पूर्व किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है (Thorner & Thorner, 1962, pp. 52–60; Frankel, 2005, pp. 96–105)। इन आंदोलनों ने न केवल सामंती प्रभुत्व और सामाजिक असमानताओं को चुनौती दी, बल्कि ग्रामीण समाज को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनाया। अतः 1937–1947 का दशक संयुक्त प्रांत में किसान आंदोलन के लिए एक निर्णायक संक्रमणकाल सिद्ध हुआ। इस अवधि में आर्थिक असंतोष राजनीतिक प्रतिरोध में रूपांतरित हुआ, किसानों की वर्गीय और लोकतांत्रिक चेतना विकसित हुई, और ग्रामीण राजनीति का पुनर्गठन हुआ। यह आंदोलन केवल राष्ट्रीय स्वतंत्रता–संघर्ष का सहायक कार्यक्रम नहीं था; वह स्वयं एक स्वायत्त सामाजिक–राजनीतिक प्रक्रिया थी, जिसने औपनिवेशिक प्रशासन और सामंती ढाँचों को चुनौती देते हुए स्वतंत्रता पश्चात् भारत की भूमि–नीति और सामाजिक–आर्थिक पुनर्संरचना की आधारशिला रखी।

संदर्भ

1. Amin, Shahid. Event, Metaphor, Memory: Chauri Chaura 1922–1992. Berkeley: University of California Press, 1995.
2. Arnold, David. The Congress in Tamilnad: Nationalist Politics in South India, 1919-1937. Routledge, 2017.
3. Arnold, David. Famine: Social Crisis and Historical Change. Oxford: Basil Blackwell, 1988.
4. Bandyopadhyay, Sekhar. From Plassey to Partition and After. New Delhi: Orient Longman, 2004.
5. Bayly, Christopher Alan. Indian society and the making of the British Empire. Vol. 1. Cambridge University Press, 1987.
6. Bayly, Christopher Alan. Rulers, Townsmen and Bazaars: North Indian Society in the Age of British Expansion: 1770–1870. Oxford University Press, 2012.
7. Brass, Paul R. The Politics of India Since Independence. Cambridge: Cambridge University Press, 1994.
8. Brass, Tom. New farmers' movements in India. Routledge, 2014.

9. Brass, Tom. Towards a comparative political economy of unfree labour: Case studies and debates. Routledge, 2015.
10. Brown, Judith M. Gandhi's rise to power: Indian politics 1915-1922. Vol. 11. Cambridge University Press, 1972.
11. Brown, Judith M. Modern India: the origins of an Asian democracy. Oxford University Press, 1994.
12. Chandra, Bipan et al. India's Struggle for Independence. New Delhi: Penguin, 1988.
13. Desai, A. R. (ed.). Peasant Struggles in India. Delhi: Oxford University Press, 1979.
14. Dhanagare, D. N. Peasant Movements in India 1920–1950. Delhi: Oxford University Press, 1983.
15. Frankel, Francine R. India's Political Economy 1947–2004. Delhi: Oxford University Press, 2005.
16. Guha, Ranajit. Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India. Delhi: Oxford University Press, 1983.
17. Low, D. A. (ed.). Congress and the Raj: Facets of the Indian Struggle 1917–47. London: Oxford University Press, 1977.
18. Low, D. A. "Britain and Indian nationalism." American history 1861, no. 1900 (1945).
19. Pandey, Gyanendra. The Ascendancy of the Congress in Uttar Pradesh, 1926–34. Delhi: Oxford University Press, 1982.
20. Roy, Tirthankar. The Economic History of India 1857–1947. Delhi: Oxford University Press, 2000.
21. Sarkar, Sumit. Modern India 1885–1947. Delhi: Macmillan, 1983.
22. Stokes, Eric. The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India. Cambridge: Cambridge University Press, 1978.
23. Thorner, Daniel and Alice Thorner. Land and Labour in India. Bombay: Asia Publishing House, 1962.
24. Tomlinson, B. R. The Political Economy of the Raj 1914–1947. London: Macmillan, 1979.